Gyanvividha, Vol.-3; Issue-4 (Oct.-Dec.) 2026 : PP-38-43

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान विषयों की अंतर्राष्ट्रीय सहकर्मी समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध-पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
Impact Factor-8.002 (SJIF)
Vol.-3; Issue-4 (Oct.-Dec.) 2026
Page No.- 38-43
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

Author's :
Dr. Shradha Kumari
P.G. Head Department of Philosophy,
Nalanda College, Biharsharif.

Corresponding Author :
Dr. Shradha Kumari
P.G. Head Department of Philosophy,
Nalanda College, Biharsharif.

नागार्जुन के शून्यवाद में वास्तविकता की समस्या : एक दार्शनिक विश्लेषण

सारांश (Abstract) : भारतीय दर्शन में वास्तविकता की समस्या सदैव दार्शनिक चिन्तन का एक प्रमुख विषय रही है। विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों ने जगत, पदार्थ, आत्मा तथा अस्तित्व के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए अलग-अलग सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इसी परम्परा में बौद्ध दर्शन के माध्यमिक सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य नागार्जुन ने शून्यवाद के माध्यम से वास्तविकता की प्रचलित अवधारणाओं का तार्किक एवं आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया। नागार्जुन के अनुसार संसार की कोई भी वस्तु स्वतंत्र, स्थायी एवं स्वभावसिद्ध सत्ता नहीं रखती। समस्त वस्तुओं का अस्तित्व कारणों, परिस्थितियों एवं पारस्परिक सम्बन्धों पर निर्भर करता है। इसी निर्भरता को प्रतीत्यसमुत्पाद कहा जाता है और इसी के दार्शनिक स्वरूप को शून्यता के माध्यम से अभिव्यक्त किया जाता है। प्रस्तुत शोध-लेख का उद्देश्य नागार्जुन के शून्यवाद में वास्तविकता की समस्या का विश्लेषण करना है। इसमें स्वभाव की अवधारणा, प्रतीत्यसमुत्पाद, शून्यता, द्विसत्य सिद्धान्त तथा चतुष्कोटि तर्क के आधार पर वास्तविकता के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। साथ ही नागार्जुन के दर्शन की दार्शनिक उपयोगिता एवं उसकी आलोचनात्मक सीमाओं का भी विवेचन किया गया है।

प्रमुख शब्द : नागार्जुन, शून्यवाद, वास्तविकता, माध्यमिक दर्शन, स्वभाव, प्रतीत्यसमुत्पाद, द्विसत्य सिद्धान्त, चतुष्कोटि।

1. प्रस्तावना : दर्शनशास्त्र की मूलभूत समस्याओं में वास्तविकता की समस्या का विशेष स्थान है। वास्तविकता से आशय उस सत्ता अथवा अस्तित्व से है जिसके आधार पर जगत, पदार्थ, व्यक्ति तथा घटनाओं की उपस्थिति एवं प्रकृति को समझा जाता है। दार्शनिक चिन्तन में यह प्रश्न सदैव महत्त्वपूर्ण रहा है कि क्या वस्तुओं का अस्तित्व अपने आप में स्वतंत्र एवं निरपेक्ष है अथवा उनका अस्तित्व किसी अन्य सत्ता, परिस्थिति या कारण पर निर्भर करता है? इसी प्रश्न के अन्तर्गत यह भी विचार किया जाता है कि वस्तुओं का कोई स्थायी एवं अन्तर्निहित स्वभाव है अथवा उनका स्वरूप परिवर्तनशील एवं सम्बन्धपरक है।

भारतीय दर्शन में वास्तविकता की समस्या का समाधान विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। न्याय-वैशेषिक दर्शन ने पदार्थों की वास्तविक सत्ता को स्वीकार करते हुए जगत को वस्तुगत एवं वास्तविक माना। सांख्य दर्शन ने प्रकृति एवं पुरुष को दो स्वतंत्र तत्त्वों के रूप में स्वीकार किया, जबकि अद्वैत वेदान्त ने ब्रह्म को परम वास्तविकता के रूप में प्रतिष्ठित किया। इसके विपरीत बौद्ध दर्शन ने अनित्यता, अनात्मवाद एवं प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्तों के माध्यम से स्थायी एवं स्वतंत्र सत्ता की अवधारणा का परीक्षण किया।

इसी बौद्ध दार्शनिक परम्परा में आचार्य नागार्जुन का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने माध्यमिक दर्शन के माध्यम से वास्तविकता के सम्बन्ध में प्रचलित स्वभावसिद्ध सत्ता की अवधारणा की तार्किक समीक्षा की। उनकी प्रसिद्ध कृति मूलमध्यमककारिका में यह प्रतिपादित किया गया है कि संसार की कोई भी वस्तु अपने स्वतंत्र स्वभाव से उत्पन्न नहीं होती। समस्त वस्तुएँ कारणों एवं परिस्थितियों पर निर्भर होकर अस्तित्व ग्रहण करती हैं।

नागार्जुन के अनुसार शून्यता का अर्थ वस्तुओं का पूर्ण अभाव अथवा अस्तित्व का निषेध नहीं है, बल्कि वस्तुओं में स्वतंत्र एवं अपरिवर्तनशील स्वभाव के अभाव को व्यक्त करना

है। इस दृष्टि से शून्यता वास्तविकता की एक ऐसी व्याख्या प्रस्तुत करती है जिसमें अस्तित्व को स्वतंत्र सत्ता के रूप में न देखकर पारस्परिक निर्भरता के आधार पर समझा जाता है।

वास्तविकता की समस्या के सन्दर्भ में नागार्जुन का दर्शन इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि वह अस्तित्ववाद और नास्तित्ववाद, शाश्वतवाद और उच्छेदवाद जैसी दार्शनिक अतियों से बचते हुए मध्यम मार्ग का प्रतिपादन करता है। प्रस्तुत शोध-लेख में नागार्जुन के शून्यवाद के आधार पर वास्तविकता की प्रकृति का विश्लेषण किया जाएगा तथा यह समझने का प्रयास किया जाएगा कि शून्यता किस प्रकार वस्तुओं के अस्तित्व को एक नवीन दार्शनिक दृष्टिकोण प्रदान करती है।

2. वास्तविकता की समस्या : भारतीय दार्शनिक परिप्रेक्ष्य : भारतीय दर्शन में वास्तविकता की समस्या का सम्बन्ध मुख्यतः सत्ता के स्वरूप, जगत की उत्पत्ति, आत्मा की प्रकृति तथा ज्ञान की प्रामाणिकता से रहा है। विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों ने यह जानने का प्रयास किया है कि इस संसार में विद्यमान वस्तुओं का वास्तविक आधार क्या है तथा उनके अस्तित्व की प्रकृति कैसी है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार बाह्य जगत वास्तविक है। इस दर्शन में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय आदि पदार्थों के माध्यम से वस्तुगत वास्तविकता की व्याख्या की गई है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार पदार्थों का अस्तित्व केवल मानसिक कल्पना नहीं है, बल्कि वे वस्तुनिष्ठ सत्ता रखते हैं।

सांख्य दर्शन ने वास्तविकता की व्याख्या प्रकृति एवं पुरुष के द्वैत के आधार पर की। इसके अनुसार प्रकृति जगत के विकास का मूल कारण है तथा पुरुष चेतन एवं साक्षी तत्त्व है। इस प्रकार सांख्य दर्शन में वास्तविकता को दो मूलभूत तत्त्वों के आधार पर समझा गया है।

अद्वैत वेदान्त में शंकराचार्य ने ब्रह्म को एकमात्र पारमार्थिक वास्तविकता स्वीकार किया। उनके अनुसार ब्रह्म नित्य, शुद्ध, बुद्ध एवं अद्वितीय है। जगत को व्यावहारिक स्तर पर स्वीकार किया जाता है, किन्तु उसकी स्वतंत्र पारमार्थिक सत्ता नहीं मानी जाती। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त वास्तविकता की समस्या का समाधान ब्रह्म की निरपेक्ष सत्ता के माध्यम से करता है।

इसके विपरीत बौद्ध दर्शन वास्तविकता को अनित्य एवं प्रतीत्यसमुत्पन्न मानता है। बुद्ध के अनुसार संसार की सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील हैं और उनका अस्तित्व कारणों एवं परिस्थितियों पर निर्भर करता है। अनात्मवाद के सिद्धान्त के अनुसार किसी स्थायी एवं अपरिवर्तनशील आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता।

बौद्ध दर्शन की विभिन्न शाखाओं में वास्तविकता को लेकर अलग-अलग दृष्टिकोण विकसित हुए। वैभाषिक सम्प्रदाय ने बाह्य वस्तुओं की वास्तविकता को स्वीकार किया, जबकि सौत्रान्तिक ने बाह्य वस्तुओं के ज्ञान की प्रक्रिया पर विशेष बल दिया। योगाचार दर्शन ने विज्ञान अथवा चेतना की भूमिका को महत्त्व प्रदान किया। माध्यमिक दर्शन ने इन विभिन्न सत्ता-सम्बन्धी धारणाओं की आलोचनात्मक समीक्षा करते हुए यह प्रतिपादित किया कि किसी भी वस्तु में स्वतंत्र एवं स्वभावसिद्ध सत्ता नहीं होती।

इस प्रकार भारतीय दर्शन में वास्तविकता की समस्या के विभिन्न समाधानों के बीच नागार्जुन का माध्यमिक दर्शन एक विशिष्ट स्थान रखता है। उनका चिन्तन न केवल वस्तुओं की स्वतंत्र सत्ता का परीक्षण करता है, बल्कि वास्तविकता के सम्बन्ध में हमारी वैचारिक धारणाओं की सीमाओं को भी स्पष्ट करता है।

3. नागार्जुन का दार्शनिक परिचय एवं माध्यमिक दर्शन की पृष्ठभूमि : आचार्य नागार्जुन बौद्ध दर्शन के इतिहास में एक अत्यन्त प्रभावशाली दार्शनिक माने जाते हैं। सामान्यतः उनका समय दूसरी-तीसरी शताब्दी ईस्वी के आसपास माना जाता है, यद्यपि उनके जीवनकाल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। उन्हें माध्यमिक दर्शन का प्रमुख प्रवर्तक माना जाता है। उनके दार्शनिक चिन्तन का मुख्य उद्देश्य बुद्ध के प्रतीत्यसमुत्पाद एवं मध्यम प्रतिपदा के सिद्धान्तों की तार्किक एवं तत्त्वमीमांसीय व्याख्या करना था।

नागार्जुन की प्रमुख दार्शनिक कृति मूलमध्यमककारिका है। इस ग्रन्थ में उन्होंने लगभग सत्ताईस अध्यायों के माध्यम से कारणता, गति, आत्मा, काल, इन्द्रिय, तत्त्व, कर्म, दुःख, निर्वाण तथा तथागत आदि विषयों का विश्लेषण किया है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं का खण्डन केवल विरोध के उद्देश्य से नहीं, बल्कि उनके अन्तर्निहित तार्किक विरोधाभासों को स्पष्ट करने के लिए किया गया है।

माध्यमिक दर्शन की पृष्ठभूमि बुद्ध के मध्यम मार्ग एवं प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त में निहित है। बुद्ध ने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों को अस्वीकार करते हुए ऐसी दार्शनिक दृष्टि प्रस्तुत की जिसमें किसी स्थायी आत्मा अथवा पूर्ण विनाश की धारणा को स्वीकार नहीं किया गया।

नागार्जुन ने इसी मध्यम मार्ग को तर्कशास्त्रीय एवं तत्त्वमीमांसीय आधार प्रदान किया। उनके अनुसार किसी वस्तु को पूर्णतः स्वतंत्र सत्ता मानना उचित नहीं है, क्योंकि उसका अस्तित्व अन्य कारणों एवं परिस्थितियों पर निर्भर करता है। इसी प्रकार वस्तुओं के अस्तित्व का पूर्ण निषेध करना भी उचित नहीं है, क्योंकि व्यवहार के स्तर पर उनका अस्तित्व स्वीकार किया जाता है।

माध्यमिक दर्शन की मूल मान्यता यह है कि सभी वस्तुएँ स्वभावशून्य हैं। इसका तात्पर्य यह है कि कोई भी वस्तु अपने आप में स्वतंत्र, अपरिवर्तनशील एवं आत्मनिर्भर अस्तित्व नहीं रखती। वस्तुओं की सत्ता सम्बन्धों एवं परिस्थितियों के आधार पर निर्धारित होती है।

नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन का उद्देश्य किसी नवीन परम तत्त्व की स्थापना करना नहीं, बल्कि उन सभी धारणाओं की आलोचनात्मक समीक्षा करना है जो वस्तुओं में स्वतंत्र एवं स्थायी स्वभाव मानती हैं। इस दृष्टि से माध्यमिक दर्शन एक आलोचनात्मक दार्शनिक पद्धति के रूप में विकसित होता है।

4. स्वभाव की अवधारणा एवं उसका तार्किक खण्डन : नागार्जुन के शून्यवाद को समझने के लिए स्वभाव की अवधारणा को समझना अत्यन्त आवश्यक है। स्वभाव का सामान्य अर्थ किसी वस्तु का अपना स्वाभाविक, अन्तर्निहित एवं स्वतंत्र स्वरूप है। यदि किसी वस्तु में स्वभाव विद्यमान है, तो उसका अस्तित्व किसी अन्य वस्तु या कारण पर निर्भर नहीं होना चाहिए। ऐसी सत्ता को स्वतंत्र एवं आत्मनिर्भर सत्ता कहा जा सकता है।

नागार्जुन इसी स्वभावसिद्ध सत्ता का तार्किक खण्डन करते हैं। उनके अनुसार यदि वस्तुओं में स्वतंत्र स्वभाव होता, तो वे न तो किसी कारण पर निर्भर होतीं और न ही उनमें परिवर्तन सम्भव होता। किन्तु अनुभव में सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील दिखाई देती हैं। वे उत्पन्न होती हैं, कुछ समय तक विद्यमान रहती हैं और अन्ततः नष्ट हो जाती हैं।

मूलमध्यमककारिका के पन्द्रहवें अध्याय में नागार्जुन स्वभाव की समस्या का विशेष विश्लेषण करते हैं। वे यह स्पष्ट करते हैं कि स्वभाव किसी अन्य कारण से उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि यदि वह किसी कारण से उत्पन्न होता है तो वह स्वतंत्र स्वभाव नहीं रह जाता।

इस सन्दर्भ में नागार्जुन का तर्क है कि यदि कोई वस्तु कारणों एवं परिस्थितियों पर निर्भर होकर उत्पन्न होती है, तो उसमें स्वतंत्र सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए, एक वृक्ष का अस्तित्व बीज, मिट्टी, जल, प्रकाश, वायु एवं अन्य प्राकृतिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है। इनमें से आवश्यक परिस्थितियों के अभाव में वृक्ष का विकास सम्भव नहीं है। अतः वृक्ष को पूर्णतः स्वतंत्र सत्ता के रूप में स्वीकार करना उचित नहीं होगा।

इसी प्रकार मनुष्य का अस्तित्व भी अनेक जैविक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं पर्यावरणीय परिस्थितियों पर निर्भर करता है। उसका व्यक्तित्व एवं व्यवहार निरन्तर परिवर्तनशील रहता है। इसलिए किसी स्थायी एवं अपरिवर्तनशील आत्मस्वभाव की धारणा को तार्किक रूप से स्थापित करना कठिन है।

नागार्जुन के अनुसार स्वभाव को स्वीकार करने से उत्पत्ति एवं परिवर्तन की समस्या उत्पन्न होती है। यदि कोई वस्तु अपने स्वभाव से ही विद्यमान है, तो उसके उत्पन्न होने का प्रश्न निरर्थक हो जाता है। दूसरी ओर यदि वह किसी अन्य कारण से उत्पन्न होती है, तो उसे स्वतंत्र स्वभावयुक्त नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार नागार्जुन स्वभाव की अवधारणा का खण्डन करते हुए यह निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं कि वस्तुओं का अस्तित्व परतन्त्र एवं सम्बन्धपरक है। स्वभाव का अभाव ही शून्यता का आधार है।

5. प्रतीत्यसमुत्पाद और शून्यता का सम्बन्ध : प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्ध दर्शन का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसका अर्थ है—कारणों एवं परिस्थितियों पर निर्भर होकर वस्तुओं का उत्पन्न होना। इस सिद्धान्त के अनुसार संसार में कोई भी घटना अथवा वस्तु पूर्णतः स्वतंत्र रूप से अस्तित्व ग्रहण नहीं करती। प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व अनेक कारणों एवं परिस्थितियों के परस्पर सम्बन्ध पर आधारित होता है।

बुद्ध ने प्रतीत्यसमुत्पाद के माध्यम से दुःख की उत्पत्ति एवं उसके निरोध की व्याख्या की थी। नागार्जुन ने इसी सिद्धान्त को व्यापक तत्त्वमीमांसीय आधार प्रदान करते हुए शून्यता के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित किया।

नागार्जुन की मूलमध्यमककारिका के चौबीसवें अध्याय का अठारहवाँ श्लोक इस सम्बन्ध को स्पष्ट करता है—

यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा॥

अर्थात् जो प्रतीत्यसमुत्पाद है, उसी को हम शून्यता कहते हैं। वह परस्पर निर्भरता के आधार पर की गई प्रज्ञप्ति है और वही मध्यम प्रतिपदा है।

इस श्लोक से स्पष्ट होता है कि नागार्जुन के दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद और शून्यता दो अलग-अलग सिद्धान्त नहीं हैं। दोनों एक ही वास्तविकता के दो पक्ष हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद वस्तुओं के उत्पन्न होने की निर्भर प्रक्रिया को स्पष्ट करता है, जबकि शून्यता यह बताती है कि इस निर्भर अस्तित्व के कारण उनमें कोई स्वतंत्र एवं अपरिवर्तनशील स्वभाव नहीं है।

उदाहरण के लिए, मिट्टी से निर्मित घड़े का अस्तित्व मिट्टी, कुम्हार, चाक, जल तथा निर्माण की प्रक्रिया पर निर्भर करता है। यदि इन कारणों एवं परिस्थितियों का अभाव हो, तो घड़े का निर्माण सम्भव नहीं है। अतः घड़ा स्वतंत्र सत्ता नहीं रखता। उसका अस्तित्व अनेक परिस्थितियों के संयोग से निर्धारित होता है।

यहाँ शून्यता का अर्थ घड़े का अस्तित्व न होना नहीं है, बल्कि यह है कि घड़ा अपने आप में स्वतंत्र एवं अपरिवर्तनशील सत्ता नहीं रखता। वह कारणों एवं परिस्थितियों पर निर्भर है।

नागार्जुन के अनुसार यदि प्रतीत्यसमुत्पाद को स्वीकार किया जाता है, तो शून्यता को भी स्वीकार करना आवश्यक है। क्योंकि जो वस्तु किसी अन्य कारण पर निर्भर होकर अस्तित्व ग्रहण करती है, वह स्वतंत्र स्वभाव नहीं रख सकती।

इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद एवं शून्यता का सम्बन्ध नागार्जुन के दर्शन का आधारभूत तत्त्व है। इसके माध्यम से वे वास्तविकता को स्वतंत्र सत्ता के बजाय सम्बन्धपरक अस्तित्व के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

6. शून्यवाद में वास्तविकता की समस्या : नागार्जुन के शून्यवाद में वास्तविकता की समस्या का मुख्य आधार यह प्रश्न है कि वस्तुओं का अस्तित्व किस प्रकार समझा जाए। सामान्यतः मनुष्य वस्तुओं को स्वतंत्र एवं स्थायी सत्ता के रूप में ग्रहण करता है। वह मानता है कि प्रत्येक वस्तु का अपना निश्चित स्वरूप होता है और उसका अस्तित्व अन्य वस्तुओं से पृथक रूप में भी बना रह सकता है। नागार्जुन इसी धारणा का तार्किक परीक्षण करते हैं।

उनके अनुसार वास्तविकता को समझने में सबसे बड़ी बाधा स्वभाव की कल्पना है। जब हम किसी वस्तु को स्वतंत्र सत्ता के रूप में स्वीकार करते हैं, तब हम उसके कारणों, परिस्थितियों एवं अन्य वस्तुओं के साथ उसके सम्बन्धों की उपेक्षा कर देते हैं। परिणामस्वरूप वस्तु के वास्तविक अस्तित्व की प्रकृति को समझने में कठिनाई उत्पन्न होती है।

शून्यवाद के अनुसार संसार की सभी वस्तुएँ शून्य हैं। इसका आशय यह है कि उनमें कोई स्वतंत्र, स्थायी एवं आत्मनिर्भर स्वभाव नहीं है। वस्तुओं का अस्तित्व केवल कारणों एवं परिस्थितियों के आधार पर सम्भव होता है।

इस सिद्धान्त को समझने के लिए यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि शून्यता और अभाव समानार्थी नहीं हैं। अभाव का अर्थ किसी वस्तु का न होना है, जबकि शून्यता का अर्थ वस्तु में स्वतंत्र स्वभाव का न होना है। उदाहरण के लिए, एक मेज व्यावहारिक स्तर पर वास्तविक है, लेकिन उसका अस्तित्व

लकड़ी, निर्माणकर्ता, आकार, उपयोग एवं अन्य परिस्थितियों पर निर्भर करता है। इसलिए मेज को पूर्णतः स्वतंत्र सत्ता नहीं कहा जा सकता।

नागार्जुन के शून्यवाद में वास्तविकता के दो महत्त्वपूर्ण पक्ष दिखाई देते हैं। पहला, व्यवहार के स्तर पर वस्तुओं का अस्तित्व एवं उनकी उपयोगिता स्वीकार की जाती है। दूसरा, परम विश्लेषण के स्तर पर उनमें कोई स्वतंत्र एवं अपरिवर्तनशील सत्ता प्राप्त नहीं होती।

इस दृष्टि से शून्यवाद न तो वस्तुओं के अस्तित्व का पूर्ण निषेध करता है और न ही उन्हें परम एवं निरपेक्ष सत्ता प्रदान करता है। वह वास्तविकता को निर्भर उत्पत्ति एवं पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर समझाता है।

नागार्जुन के अनुसार वस्तुओं की वास्तविक प्रकृति को समझने के लिए उनके स्वतंत्र अस्तित्व की धारणा से मुक्त होना आवश्यक है। यही दृष्टिकोण शून्यता के दार्शनिक महत्त्व को स्पष्ट करता है।

7. द्विसत्य सिद्धान्त एवं वास्तविकता का स्वरूप : नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन में द्विसत्य सिद्धान्त का विशेष महत्त्व है। इस सिद्धान्त के अनुसार वास्तविकता को दो स्तरों पर समझा जा सकता है—

संवृति सत्य (व्यावहारिक अथवा परम्परागत सत्य)

परमार्थ सत्य (परम सत्य)

संवृति सत्य : संवृति सत्य वह सत्य है जिसके आधार पर संसार का सामान्य व्यवहार, भाषा, विचार एवं सामाजिक जीवन संचालित होता है। इस स्तर पर वस्तुओं, व्यक्तियों, घटनाओं तथा कारण-कार्य सम्बन्धों का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है।

उदाहरण के लिए, हम दैनिक जीवन में मेज, कुर्सी, वृक्ष, मनुष्य एवं अन्य वस्तुओं को वास्तविक मानते हैं। इनका उपयोग करते हैं तथा इनके साथ विभिन्न प्रकार के व्यवहार स्थापित करते हैं। यह सम्पूर्ण व्यवहार संवृति सत्य के अन्तर्गत आता है।

संवृति सत्य का अर्थ केवल भ्रम अथवा मिथ्या ज्ञान नहीं है। यह व्यावहारिक जीवन की आवश्यक एवं कार्यकारी वास्तविकता है। इसके बिना न तो सामान्य ज्ञान सम्भव है और न ही सामाजिक व्यवहार।

परमार्थ सत्य : परमार्थ सत्य वास्तविकता की वह दार्शनिक समझ है जिसमें वस्तुओं का विश्लेषण उनके स्वतंत्र एवं स्वभावसिद्ध अस्तित्व के सन्दर्भ में किया जाता है। इस स्तर पर यह स्पष्ट होता है कि किसी भी वस्तु में स्वतंत्र एवं अपरिवर्तनशील स्वभाव विद्यमान नहीं है।

उदाहरण के लिए, जब हम किसी मेज का विश्लेषण करते हैं, तो पाते हैं कि वह लकड़ी, विभिन्न अवयवों, निर्माण की प्रक्रिया एवं उपयोग के आधार पर अस्तित्व में आती है। इन परिस्थितियों से पृथक मेज की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। इस प्रकार मेज की शून्यता का बोध परमार्थ सत्य की दिशा में ले जाता है।

नागार्जुन मूलमध्यमककारिका के चौबीसवें अध्याय में दोनों सत्यों के महत्त्व को स्पष्ट करते हैं। उनके अनुसार बुद्ध ने धर्म का उपदेश दो सत्यों के आधार पर दिया है—संवृति सत्य एवं परमार्थ सत्य। जो व्यक्ति इन दोनों सत्यों के अन्तर को नहीं समझता, वह बुद्ध के उपदेश की वास्तविकता को नहीं समझ सकता।

इन दोनों सत्यों का सम्बन्ध परस्पर पूरक है। संवृति सत्य के माध्यम से ही परमार्थ सत्य को समझा जा सकता है। इसका अर्थ यह है कि व्यावहारिक जगत का पूर्ण निषेध करके परम सत्य तक नहीं पहुँचा जा सकता।

इस प्रकार द्विसत्य सिद्धान्त वास्तविकता की समस्या का एक महत्त्वपूर्ण समाधान प्रस्तुत करता है। यह स्पष्ट करता है कि वस्तुओं का व्यावहारिक अस्तित्व स्वीकार करते हुए भी उनकी स्वतंत्र एवं निरपेक्ष सत्ता को अस्वीकार किया जा सकता है।

8. चतुष्कोटि तर्क और सत्ता की अवधारणा : नागार्जुन के दर्शन में चतुष्कोटि तर्क का विशेष महत्त्व है। चतुष्कोटि एक ऐसी तार्किक पद्धति है जिसके माध्यम से किसी दार्शनिक प्रश्न के चार सम्भावित विकल्पों का परीक्षण किया जाता है। इसके चार पक्ष हैं—

अस्तित्व (अस्ति)

अनस्तित्व (नास्ति)

अस्तित्व एवं अनस्तित्व दोनों (उभय)

अस्तित्व एवं अनस्तित्व दोनों का निषेध (न उभय)

इस तार्किक पद्धति का उद्देश्य किसी वस्तु के सम्बन्ध में स्थापित परम्परागत धारणाओं की सीमाओं को स्पष्ट करना है। नागार्जुन यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि वास्तविकता को इन चार विकल्पों में से किसी एक के माध्यम से स्वतंत्र एवं स्वभावसिद्ध सत्ता के रूप में स्थापित नहीं किया जा सकता।

उदाहरण के लिए, यदि कहा जाए कि कोई वस्तु अपने आप में स्वतंत्र रूप से अस्तित्व रखती है, तो यह उसके कारणों एवं परिस्थितियों पर निर्भर होने की वास्तविकता की उपेक्षा करता है। यदि कहा जाए कि उसका बिल्कुल भी अस्तित्व नहीं है, तो यह उसके व्यावहारिक अस्तित्व का निषेध होगा। इसी प्रकार अस्तित्व एवं अनस्तित्व दोनों को एक साथ स्वीकार करना तथा दोनों का निषेध करना भी तार्किक परीक्षण की माँग करता है।

नागार्जुन चतुष्कोटि के माध्यम से विभिन्न दार्शनिक प्रतिज्ञप्तियों का परीक्षण करते हैं और यह स्पष्ट करते हैं कि किसी भी वस्तु को स्वतंत्र स्वभाव के आधार पर स्थापित करना सम्भव नहीं है।

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि चतुष्कोटि का अर्थ केवल चार विकल्प प्रस्तुत करना नहीं है। यह उन वैचारिक सीमाओं का परीक्षण करने की पद्धति है जिनके माध्यम से मनुष्य वास्तविकता को निश्चित एवं अपरिवर्तनशील श्रेणियों में बाँधने का प्रयास करता है।

नागार्जुन की यह तार्किक पद्धति कारणता, गति, आत्मा, समय एवं निर्वाण जैसे विषयों के विश्लेषण में भी दिखाई देती है। उनके अनुसार जब तक किसी वस्तु के स्वतंत्र स्वभाव को सिद्ध नहीं किया जाता, तब तक उसके अस्तित्व को निरपेक्ष सत्ता के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार चतुष्कोटि तर्क नागार्जुन के शून्यवाद में सत्ता की अवधारणा को समझने का महत्त्वपूर्ण साधन है। यह वास्तविकता को किसी एक स्थिर दार्शनिक निष्कर्ष में सीमित करने के स्थान पर उसकी निर्भर एवं सम्बन्धपरक प्रकृति को स्पष्ट करता है।

9. नागार्जुन के शून्यवाद का आलोचनात्मक मूल्यांकन : नागार्जुन का शून्यवाद भारतीय दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली दार्शनिक विचारधारा है। उन्होंने वास्तविकता की समस्या को केवल अस्तित्व अथवा अनस्तित्व के प्रश्न तक सीमित नहीं रखा, बल्कि वस्तुओं की स्वतंत्र सत्ता, कारणता एवं ज्ञान की प्रकृति का गहन तार्किक विश्लेषण प्रस्तुत किया। तथापि उनके दर्शन के सम्बन्ध में अनेक दार्शनिक प्रश्न एवं आलोचनाएँ भी सामने आती हैं।

प्रथम, शून्यवाद पर नास्तित्ववाद का आरोप :

नागार्जुन के दर्शन की प्रमुख आलोचना यह है कि शून्यता का सिद्धान्त कहीं सम्पूर्ण जगत के अस्तित्व का निषेध तो नहीं करता? यदि सभी वस्तुएँ शून्य हैं, तो क्या उनके अस्तित्व एवं व्यवहार की कोई वास्तविकता नहीं रह जाती? इस आलोचना का उत्तर नागार्जुन के द्विसत्य सिद्धान्त में मिलता है। वे संवृति सत्य के स्तर पर जगत के अस्तित्व एवं व्यवहार को स्वीकार करते हैं। अतः उनका शून्यवाद पूर्ण नास्तित्ववाद नहीं है।

द्वितीय, शून्यता की आत्मसंगतता का प्रश्न : एक अन्य आलोचना यह है कि यदि सभी वस्तुएँ शून्य हैं, तो क्या शून्यता स्वयं भी शून्य है? यदि शून्यता को स्वतंत्र एवं परम सत्ता मान लिया जाए, तो वह उसी प्रकार की स्वभावसिद्ध सत्ता बन जाएगी जिसका नागार्जुन खण्डन करते हैं। नागार्जुन की दृष्टि में शून्यता भी कोई स्वतंत्र तत्त्व नहीं है। वह वस्तुओं की स्वभावशून्यता को व्यक्त करने वाली अवधारणा है। इसलिए शून्यता को भी किसी परम पदार्थ के रूप में स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए।

तृतीय, ज्ञान एवं प्रमाण की समस्या : नागार्जुन का दर्शन ज्ञान की प्रकृति से सम्बन्धित प्रश्न भी उत्पन्न करता है। यदि सभी वस्तुएँ स्वभावशून्य हैं, तो ज्ञान की प्रामाणिकता किस आधार पर निर्धारित होगी? क्या व्यावहारिक ज्ञान एवं सत्य के बीच कोई विश्वसनीय सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है? माध्यमिक दृष्टिकोण के अनुसार ज्ञान की प्रक्रिया भी कारणों एवं परिस्थितियों पर निर्भर करती है। इसलिए ज्ञान को स्वतंत्र एवं निरपेक्ष सत्ता के रूप में नहीं, बल्कि व्यावहारिक एवं सम्बन्धपरक प्रक्रिया के रूप में समझना चाहिए।

चतुर्थ, तर्कशास्त्रीय आलोचना : कुछ आलोचकों के अनुसार चतुष्कोटि तर्क परम्परागत तर्कशास्त्र की स्थापित श्रेणियों को चुनौती देता है। यदि प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति का निषेध किया जाए, तो सकारात्मक दार्शनिक निष्कर्ष स्थापित करना कठिन हो सकता है। इस दृष्टि से यह प्रश्न उठता है कि नागार्जुन का दर्शन केवल अन्य सिद्धान्तों का खण्डन करता है अथवा वास्तविकता के सम्बन्ध में कोई सकारात्मक दृष्टिकोण भी प्रस्तुत करता है। इसका उत्तर यह है कि उनका सकारात्मक योगदान किसी नवीन परम तत्त्व की स्थापना में नहीं, बल्कि प्रतीत्यसमुत्पाद एवं शून्यता के माध्यम से वास्तविकता की सम्बन्धपरक व्याख्या में निहित है।

पंचम, दार्शनिक महत्त्व एवं समकालीन प्रासंगिकता : नागार्जुन का दर्शन केवल प्राचीन भारतीय दार्शनिक चिन्तन तक सीमित नहीं है। उनकी सम्बन्धपरक वास्तविकता की अवधारणा आज भी अनेक दार्शनिक विमर्शों के लिए महत्त्वपूर्ण है। वस्तुओं को स्वतंत्र एवं पृथक सत्ता के रूप में न देखकर उनके पारस्परिक सम्बन्धों, परिस्थितियों एवं निर्भरता के आधार पर समझने की दृष्टि आधुनिक तत्त्वमीमांसा, पर्यावरणीय चिन्तन तथा सामाजिक दर्शन में भी विचारणीय है।

विशेष रूप से पर्यावरणीय दर्शन में यह विचार महत्त्वपूर्ण है कि मनुष्य प्रकृति से पृथक एवं स्वतंत्र सत्ता नहीं है। उसका अस्तित्व प्राकृतिक संसाधनों, जैविक परिस्थितियों एवं अन्य जीवों के साथ सम्बन्धों पर निर्भर करता है। यह विचार नागार्जुन के प्रतीत्यसमुत्पाद एवं शून्यता के सिद्धान्त के साथ एक दार्शनिक साम्य प्रस्तुत करता है, यद्यपि दोनों को ऐतिहासिक रूप से समान नहीं माना जाना चाहिए।

समग्रतः नागार्जुन का शून्यवाद वास्तविकता की समस्या का ऐसा विश्लेषण प्रस्तुत करता है जो स्वतंत्र सत्ता की मान्यता को चुनौती देता है तथा अस्तित्व को निर्भरता एवं सम्बन्धों के आधार पर समझने का मार्ग प्रशस्त करता है।

10. उपसंहार : उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि आचार्य नागार्जुन का शून्यवाद भारतीय दर्शन में वास्तविकता की समस्या का एक विशिष्ट एवं गहन दार्शनिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। उन्होंने वस्तुओं के स्वतंत्र, स्थायी एवं स्वभावसिद्ध अस्तित्व की अवधारणा का तार्किक परीक्षण करते हुए यह प्रतिपादित किया कि संसार की कोई भी वस्तु अपने आप में पूर्णतः स्वतंत्र सत्ता नहीं रखती। समस्त वस्तुएँ कारणों, परिस्थितियों एवं पारस्परिक सम्बन्धों पर निर्भर होकर अस्तित्व ग्रहण करती हैं।

नागार्जुन के दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद एवं शून्यता का सम्बन्ध वास्तविकता की व्याख्या का आधार है। प्रतीत्यसमुत्पाद वस्तुओं की निर्भर उत्पत्ति को स्पष्ट करता है, जबकि शून्यता उनके स्वतंत्र स्वभाव के अभाव को अभिव्यक्त करती है। इस प्रकार शून्यता का अर्थ अस्तित्व का निषेध नहीं, बल्कि स्वतंत्र एवं निरपेक्ष सत्ता की अवधारणा का निषेध है।

द्विसत्य सिद्धान्त के माध्यम से नागार्जुन व्यावहारिक एवं पारमार्थिक वास्तविकता के बीच सम्बन्ध स्थापित करते हैं। संवृति सत्य के स्तर पर संसार की वस्तुओं एवं व्यवहार को स्वीकार किया जाता है, जबकि परमार्थ सत्य के स्तर पर उनके स्वभावशून्य स्वरूप का बोध होता है। इसी प्रकार चतुष्कोटि तर्क के माध्यम से वे वास्तविकता को अस्तित्व एवं अनस्तित्व की परम्परागत सीमाओं में बाँधने की प्रवृत्ति की आलोचना करते हैं।

नागार्जुन का दर्शन यह स्पष्ट करता है कि वास्तविकता को समझने के लिए वस्तुओं को स्वतंत्र एवं पृथक सत्ता के रूप में देखना पर्याप्त नहीं है। उनके अस्तित्व को निर्धारित करने वाले कारणों, परिस्थितियों एवं सम्बन्धों का विश्लेषण भी आवश्यक है। इस दृष्टि से उनका शून्यवाद न केवल एक तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त है, बल्कि वास्तविकता के प्रति आलोचनात्मक एवं सम्बन्धपरक दृष्टिकोण भी है।

अन्ततः कहा जा सकता है कि नागार्जुन का शून्यवाद न तो अस्तित्ववाद की अतिवादी धारणा को स्वीकार करता है और न ही नास्तित्ववाद की पूर्ण निषेधात्मक स्थिति को। वह इन दोनों के मध्य मध्यम प्रतिपदा का प्रतिपादन करता है। वास्तविकता का स्वरूप किसी स्वतंत्र एवं अपरिवर्तनशील सत्ता में नहीं, बल्कि प्रतीत्यसमुत्पाद की प्रक्रिया में निहित है। यही नागार्जुन के शून्यवाद का मूल दार्शनिक निष्कर्ष तथा भारतीय दर्शन में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान है।

11. सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

प्राथमिक स्रोत :

- नागार्जुन, मूलमध्यमककारिका।
- नागार्जुन, विग्रहव्यावर्तनी।
- नागार्जुन, शून्यतासप्तति।
- प्रज्ञापारमिता साहित्य।

द्वितीयक स्रोत :

- Murti, T. R. V. (1955). The Central Philosophy of Buddhism: A Study of the Madhyamika System. London: George Allen & Unwin.
- Kalupahana, David J. (1986). Nāgārjuna: The Philosophy of the Middle Way. Albany: State University of New York Press.
- Garfield, Jay L. (1995). The Fundamental Wisdom of the Middle Way: Nāgārjuna's Mūlamadhyamakakārikā. New York: Oxford University Press.
- Siderits, Mark and Katsura, Shōryū. (2013). Nāgārjuna's Middle Way: Mūlamadhyamakakārikā. Boston: Wisdom Publications.
- Williams, Paul. (2009). Mahayana Buddhism: The Doctrinal Foundations. London: Routledge.
- Dasgupta, Surendranath. (1922). A History of Indian Philosophy, Vol. I. Cambridge: Cambridge University Press.

•